लहर : युवा आक्रोश की सतहें

डॉ. निकिता जैन

हिन्दी की लघु पत्रिकाओं में अगर 'लहर' का नाम न लिया जाए तो लघु पत्रिकाओं का इतिहास अधूरा ही रह जाएगा। 'लहर' अपने समय की उन सशक्त पत्रिकाओं में से एक थी जिसने अन्य छोटी पत्रिकाओं के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया कि संसाधनों की कमी के बावजूद एक बेहतरीन पत्रिका कैसे निकाली जा सकती है। 'लहर' की शुरुआत सन् 1957 में हुई थी। करीब 23 से 24 वर्ष तक 'लहर' कभी नियमित तो कभी अनियमित रूप से निकलती रही। इस बीच पत्रिका पर कई बड़े घराने की पत्रिकाओं ने आरोप भी लगाये लेकिन बावजूद इसके यह पत्रिका, अपनी बेबाकी और ईमानदारी के बल पर पाठकों के हृदय में अपनी जगह बनाये रखने में सफल हुई। हिन्दी साहित्य में 'लहर' के अवदान पर प्रकाश डालने के लिए उसे अलग-अलग संदर्भों में विवेचित किया गया है। इस शोध-पत्र के माध्यम से हिन्दी साहित्य में 'लहर' पत्रिका के योगदान का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द: लहर पत्रिका, अवदान, पक्षधरता, प्रशस्त, निहायती, अर्थोपार्जन, छींटाकशी, अव्यावसायिक, आपातकाल, अव्यावसायिक, इतिहास।

'लहर' शुरुआत से ही अपने लक्ष्य को लेकर स्पष्ट थी। पत्रिका में राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि सभी मुद्दों पर बहस की जाती थी। जहाँ तक संपादकीय दृष्टिकोण की बात है तो पत्रिका में प्रकाशित सामग्री की धार जितनी सपाट और धारदार होती थी उतने उसके संपादकीय नहीं। 1957 से लेकर 1980 (के आसपास) तक इन 23-24 वर्षों में ऐसे बहुत कम मौके आये हैं जिनमें 'लहर' के संपादकीय वाकई में गंभीर और किसी विशेष मुद्दे की ओर संकेत कर रहे हों। यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि पत्रिका में ज़बरदस्ती किसी भी चालू विषय पर संपादकीय लिख कर संपादक को अपना धर्म निभा देना चाहिए लेकिन संपादक से इतनी उम्मीद पाठकों को अवश्य

होती है कि जो समकालीन स्थितियां हैं चाहे वो साहित्यिक हों या राजनीतिक या सामाजिक- जब इनसे सम्बंधित मुद्दों को पत्रिका में जोर-शोर से उठाया जा रहा है तो उस पर सम्पादक का अपना एक दृष्टिकोण आना भी उस पत्रिका और उसके पाठक के लिए बहुत आवश्यक हो जाता है और 'लहर' इसी जगह कमज़ोर पड़ती प्रतीत होती है।

'लहर' के अधिकतर अंकों में या तो संपादकीय स्तम्भ है ही नहीं और अगर हैं तो उसमें- प्रस्तुत अंक या आगामी अंक के बारे में सूचना ही अधिक दी गयी है। इसके अतिरिक्त जो विशेषांक निकले हैं उनमें अवश्य लेखक या भाषा विशेष पर अपना रुख स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है। इसके अलावा कुछेक अंकों में ज़रुर 'लहर' ने कुछ विषयों को लेकर संपादकीय स्तम्भ में अपना पक्ष पाठकों के समक्ष रखा है। अपने संपादकीय स्तम्भ में छोटी पत्रिकाओं के संघर्ष को लेकर 'लहर' पत्रिका ने अपना स्वर बुलंद किया है। मई 1968 में प्रकाशित अपने छोटे से संपादकीय नोट में सम्पादक ने 'लघु पत्रिकाओं' के आर्थिक संकट का मुद्दा उठाया कि कैसे ये पत्रिकाएँ अल्पसाधनों के बावजूद अपनी वैचारिक पक्षधरता को लेकर संघर्षरत हैं। इसी मुद्दे को विस्तार देते हुए अगस्त 1968 के संपादकीय में प्रकाश जैन ने लघु पत्रिकाओं को उनके उत्तरदायित्वों से परिचित कराया और उनके हौसले को बढ़ाते हुए कहा- "हम हर कदम पर ज़िन्दगी और मौत से जूझ रहे हैं। पर यह भी सही है कि मृत्यु निश्चित है- चाहे आज हो या कल। अत: आवश्यक है कि हम आंतरिक शक्ति का सहारा लें और जागरूक लेखकों के साथ अपनी दृष्टि खुली रखकर चलें। कोई पत्रिका जीवित रहती है या असमय मर जाती है ये बात कतई महत्त्व नहीं रखती; महत्व रखती यह बात कि अगली आने वाली पत्रिका का मार्ग वह अपने जीवन-काल में प्रशस्त करती है या नहीं।"[1] ज़ाहिर है कि छोटी पत्रिकाओं का कोई निश्चित भविष्य नहीं होता, अर्थ के अभाव में उनका बंद हो जाना कोई नयी बात नहीं है और ऐसी हजारों लघु पत्रिकाएँ निकली और बंद हुई जिनके नाम भी लोगों को शायद ध्यान न हों लेकिन यहाँ शोहरत और नाम से अधिक अपने उत्तरदायित्व के प्रति समर्पित रहने की बात कही गयी है जो अपने जीवन काल में ऐसे पदचिह्न छोड़ जाएँ जो दूसरी पत्रिकाओं के लिए एक उदाहरण बने। लेकिन एक सच्चाई यह भी है कि हर पत्रिका आगे आने वाली पत्रिका का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती। इसके पीछे कई कारण हैं- सबसे बड़ा कारण है पत्रिका की अनियमितता। सही समय पर प्रकाशित न होने के कारण पत्रिका को लेखक वर्ग और सीमित पाठक वर्ग दोनों की ही आलोचना का शिकार होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सही समय पर स्तरीय रचनाओं का न मिलना, लेखकों का शोषण, कुछ भी उठाकर छाप देना आदि कारण भी पत्रिकाओं के प्रकाशन में बाधा उत्पन्न करते हैं। प्रकाश जैन अपने संपादकीय में इस समस्या की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं- "लघु पत्रिकाओं की कुछ स्थिति ऐसी है कि बहुत बड़ी संख्या में निकलने के कारण इनके स्तर और नियमितता में सुधार इसलिए नहीं हो रहा है क्योंकि आज के रचनाकार का पाठक-वर्ग लेखक-वर्ग तक ही सीमित है। .....हिन्दी जानने वालों की इतनी बड़ी संख्या के बावजूद अधिकतर पत्रिकाएँ उतनी ही प्रतियाँ छपवाती हैं, जितनी की उन्हें ज़रूरत होती है।"[2] यह बात सोलह आने सच है कि लघु पत्रिकाओं के पाठक भी अधिकतर वही हैं जो उनमें लिखते हैं और इसके बाद आते हैं वह शोधार्थी जो अपने शोध-कार्य के दौरान इन पत्रिकाओं के संपर्क में आते हैं। ऐसे साहित्यप्रेमी बहुत कम हैं जो इन पत्रिकाओं विशेषकर छोटी पत्रिकाओं को पढ़ने के लिए उत्सुक रहते हों। यह स्थिति जैसी तब थी, आज भी वैसी ही बनी हुई है। 60 वर्ष बाद आज भी छोटी पत्रिकाओं के ऊपर जो अस्तित्व का संकट मंडरा रहा है उससे निजात पाना कठिन दिखाई देता है।

'लहर' ने लघु पत्रिकाओं के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए न केवल सुझाव पेश किये बल्कि समय-समय पर वह ऐसे प्रश्नों को भी उठाती रही जो वाकई में

लघु पत्रिकाओं के विकास में अवरोधक सिद्ध हो रहे थे। जनवरी 1969 के संपादकीय में प्रकाश जैन ने 'लघु या छोटी पत्रिकायें' इस नामकरण को लेकर कुछ प्रश्न उठाये- "यह नामकरण ही गलत नहीं है क्या ? छोटी पत्रिका माने ? क्या वैसा ही कुछ, जैसे भारत में छोटा आदमी, छोटी जात ? या फिर पत्रिका का छोटा आकार ? हंसी की बात नहीं है यह ? हम सहस्त्राब्दियों से चले आ रहे ऊँच-नीच, छोटे-बड़े के भेद को मिटाने का प्रपंच रचकर इस भेदभाव की शाखाएं-उपशाखाएं बढ़ाते जा रहे हैं।"[3] यहाँ पर प्रकाश जैन पत्रिकाओं को छोटी या बड़ी श्रेणी में रखने के पक्ष में नहीं हैं। उनका तर्क भी सही है- किसी को छोटा या बड़ा कहना उसे हीनता का एहसास कराने जैसा है फिर यह नामकरण क्यों ? लघु पत्रिकाओं के संदर्भ में तो यह नामकरण और भी विवादास्पद है क्योंकि ऐसी पत्रिकाओं का विज़न बहुत बड़ा है फिर यह पत्रिकाएँ लघु या छोटी कैसे हुईं ? लघु पत्रिकाओं के नामकरण को लेकर शायद ही इससे पहले किसी अन्य पत्रिका ने इन पहलुओं पर गौर किया हो जिन पर 'लहर' ने बड़ी तार्किक दृष्टि से प्रकाश डाला। प्रकाश जैन ने प्रस्तुत संपादकीय में स्पष्ट किया कि लघु या छोटी पत्रिकाओं को अव्यावसायिक पत्रिकाएँ कहना ज्यादा बेहतर है क्योंकि यह पत्रिकाएं किसी मुनाफे के तहत नहीं निकाली जातीं बल्कि ये किसी निश्चित साहित्यिक, सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्य से जुड़ी होती हैं।

'लहर' पत्रिका भले ही अव्यावसायिक पत्रिकाओं के लिए एक उदाहरण बन गयी हो लेकिन इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि आये दिन बड़ी पत्रिकाओं के निशाने पर 'लहर' जैसी पत्रिकाएँ हमेशा ही रहती थीं। दिनमान जैसी बड़े घराने की पत्रिकाओं ने 'लहर' पर अर्थोपार्जन का आरोप लगाया। 'लहर' के संदर्भ में एक लम्बी टिपण्णी 'दिनमान' में प्रकाशित हुई जिसका जवाब संपादक मनमोहिनी ने कुछ यूँ दिया- "मैंने कहा था कि- 'लहर' ने स्वयं को कभी छोटी पत्रिका नहीं कहा और 'लहर' छोटी पत्रिका है भी नहीं। ...छोटी पत्रिका किसी की जीविका का साधन नहीं हो सकती। वह वैसे भी अल्पायु होती है प्राय : किन्तु 'लहर' हमारी जीविका का साधन है। इस बात को अब इस रूप में प्रचारित किया जा रहा है, कुछ गलत लोगों द्वारा कि मनमोहिनी जी ने कहा है, 'लहर' अर्थोपार्जन कर रही है। मुझे दया आती है, शब्दों का इतना गलत अर्थ समझने वालों पर या फिर गलत न भी समझ कर गलत अर्थ लगाने वालों पर।"[4] प्रस्तुत कथन में स्पष्ट रूप से मनमोहिनी जी ने 'लहर' को जीविका का साधन माना है लेकिन यहाँ जीविका का साधन का मतलब अर्थोपार्जन से नहीं है बल्कि उस उद्देश्य से है जिसे 'लहर' पूर्ण कर रही थी। दरअसल जीवन का पहिया केवल अर्थ के आधार पर नहीं चल सकता उसे चलाने के लिए एक उद्देश्य या लक्ष्य का होना अत्यंत आवश्यक है जो अर्थ की आवश्यकता से अलग जीवन की सम्पूर्णता के साथ जुड़ा हुआ हो- मनमोहिनी जी 'लहर' के संदर्भ में इसी जीविका के बारे में बात कर रही थीं लेकिन 'दिनमान' जैसी पत्रिकाएँ इस वाक्य को गलत अर्थ में ले गयीं और 'लहर' पर छींटाकशी करने लगीं। 'दिनमान' की इस टिप्पणी के कारण 'लहर' में लम्बी बहस चली। दिनमान की टिप्पणी के बाद 'लहर' ने कुछ साहित्यकारों से इस विषय पर विस्तृत प्रतिक्रिया की मांग की थी जिनमें से कुछ लोग पत्रिका के समर्थन में आये तो कुछ लोगों ने इस पर गंभीर आरोप लगाकर इसे कटघरे में खड़ा कर दिया। इनमें से एक थे 'विजयबहादुर सिंह' जिनके तीन पृष्ठ के पत्र को 'लहर' ने प्रकाशित किया था। विजयबहादुर सिंह

दरअसल जीवन का पहिया केवल अर्थ के आधार पर नहीं चल सकता उसे चलाने के लिए एक उद्देश्य या लक्ष्य का होना अत्यंत आवश्यक है जो अर्थ की आवश्यकता से अलग जीवन की सम्पूर्णता के साथ जुड़ा हुआ हो।

ने बड़ी ही बेबाकी के साथ अपनी बात रखते हुए कहा कि जो 'दिनमान' ने 'लहर' पर आक्षेप लगाये हैं वो वाकई में गलत हैं लेकिन इसमें सारा दोष 'दिनमान' जैसी पत्रिकाओं का भी नहीं है। वे 'लहर' के आर्थिक संकट पर सवालिया निशान लगाते हुए आगे कहते हैं- "मुझे व्यावसायिकता और अव्यावसायिकता का यह नारा उतना ही बेमानी और शरारती नज़र आता है जितना कुछ दिनों पहले का- साहित्यिक कहानी बनाम लोकप्रिय कहानी। ...अपनी बात कहने के लिए जब आप दूसरों पर आक्षेप करते हैं तो इस बात के लिए आपको तैयार रहना चाहिए कि दूसरे भी आपका विरोध कर सकते हैं। ...दिनमान ने छोटी पत्रिकाओं पर छींटाकशी की है। मैं समझता हूँ उसने तो केवल जवाब दिया है। क्या छोटी पत्रिकाओं ने 'व्यावसायिक पत्रों' पर कम छींटाकशी की है ?... अपना आय-व्यय विवरण प्रकाशित कर, दे मारिए दिनमान के मुंह पर और साबित कर दीजिये कि आपने अर्थोपार्जन नहीं किया है।"[5] विजयबहादुर सिंह ने स्पष्ट शब्दों में 'लहर' से उनके बेगुनाह होने का प्रमाण मांग लिया और साथ में यह भी कह दिया कि छोटी पत्रिकाएँ जो व्यावसायिकता और अव्यावसायिकता का नारा देती रहती हैं, उसे देने से पहले अपनी स्थिति पर गौर करें। ये तो नहीं कहा जा सकता कि हर छोटी पत्रिका अव्यावसायिकता के सारे मापदंडों पर खरी ही उतर रही है। ज़ाहिर है कि एक पत्रिका को निकालने के लिए कुछ धन की आवश्यकता तो हर व्यक्ति को होगी। सवाल यह है कि वो धन केवल पत्रिका को प्रकाशित करने में इस्तेमाल किया जा रहा हो न कि निजी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु। क्योंकि लघु पत्रिकाएँ किसी की निजी ज़रूरतों को पूर्ण करने के लिए नहीं निकाली जातीं और यही सबसे बड़ा अंतर है व्यावसायिक और अव्यावसायिक पत्रिकाओं में। अव्यावसायिक पत्रिकाएँ, व्यावसायिक पत्र- पत्रिकाओं पर यही आक्षेप लगाती आ रही हैं कि निजी स्वार्थ एवं लालच की वजह से यह अपना उत्तरदायित्व भूल गए हैं, लेकिन अब आलम यह था कि व्यावसायिक घराने के इन पत्रों ने भी अपना मोर्चा इन अव्यवसायिक पत्रों के खिलाफ खोल दिया था जिसके ऐवज़ में यह पूरी बहस छिड़ी थी। 'लहर' ने दिनमान की टिप्पणी के खिलाफ साहित्यकारों एवं पाठकों से सहयोग जुटाने का जो प्रयास किया था उसमें 'लहर' को ही सलाह दी जा रही थी कि वह इन छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान न देकर अपने उत्तरदायित्वों को पूरी तरह निभाते हुए आगे बढ़ें- "मैं नहीं जानता कि 'लहर' ने कितना अर्थोपार्जन किया है... लेकिन 'लहर' का अन्य श्रमजीवी पत्रिकाओं और उनके समर्थकों के प्रति रुख हमेशा तर्कसंगत नहीं रहा है। बिना तथ्यों की पड़ताल किए आप भी इस तरह के आक्षेप छापते रहते हैं। आप ज़रा-ज़रा सी बातों पर भड़क कर, अपने गंभीर उत्तरदायित्वों को धता बता देते हैं, इस दृष्टि से 'लहर' और 'दिनमान' में क्या फर्क रह जाता है।"[6] उक्त कथन से ज़ाहिर है कि 'लहर' जिस 'दिनमान' पत्रिका के खिलाफ अन्य लघु पत्रिकाओं, साहित्यकारों और पाठकों का समर्थन हासिल करना चाह रही थी वह नहीं कर पायी बल्कि उस भंवर में स्वयं ही फंस गयी। इस बात में दो राय नहीं है कि 'लहर' अर्थोपार्जन के लिए नहीं निकाली जा रही थी। लेकिन 'लहर' में प्रकाशित होने वाले विज्ञापन, उसे कभी-कभार मिलने वाली ग्रांट उसकी परेशानी का सबब बने हुए थे। यहाँ तक कि पत्रिका में छपने वाले लेखक भी 'लहर' पर यह आरोप लगा रहे थे कि गैर सरकारी और कभी-कभी सरकारी विज्ञापन मिलने के बावजूद पत्रिका अपने लेखकों को कुछ पारिश्रमिक क्यों नहीं देती है ? यह बार-बार आर्थिक संकट का राग क्यों अलापती है ? यहाँ पर यही कहा जा सकता है कि लघु पत्रिकाओं का संघर्ष कोई छोटा-मोटा नहीं है जो कुछेक विज्ञापनों और ग्रांट से हल हो सके। लगातार 20 से 25 वर्ष किसी पत्रिका को निकालना बिना किसी स्थायी आर्थिक आधार के यह अपने आप में बड़ी बात है। 'लहर' पर कितने ही आरोप क्यों न लगे हों लेकिन एक बात स्पष्ट है कि पत्रिका ने कभी अपने उसूलों के साथ बेईमानी नहीं की। पत्रिका ने

अपने ऊपर आक्षेप लगाने वालों को भी उसी निष्पक्षता के साथ प्रकाशित किया जितना कि अन्य किसी को। 'लहर' का यही दृष्टिकोण ही उसे अन्य पत्रिकाओं से अलग करता है। जैसे कि पहले भी चर्चा की गयी है कि केवल आकार मात्र या कह देने मात्र से ही कोई पत्रिका छोटी या लघु नहीं हो जायेगी उसके लिए नजरिये का होना सबसे अहम है, जो 'लहर' के पास था। इसी दृष्टिकोण के सहारे 'लहर' इतने वर्षों तक साहित्य और समाज को एक नयी सीख देती रही। कमियां हर किसी में होती हैं 'लहर' में भी थीं लेकिन इन सबके बावजूद पत्रिका के सम्पादकीयों में 'छोटी पत्रिकाओं' के आर्थिक संकट, संघर्ष, दृष्टिकोण आदि पहलुओं को उठाकर नए ढंग से विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

नयी कहानी के संदर्भ में हिंदी लेखक शुरुआत से ही दो गुटों में बंटे नज़र आये हैं- एक वो जो इस आन्दोलन या प्रवृत्ति का समर्थन करते हैं और दूसरे वो जो 'नयी कहानी' को किसी भी कीमत पर नया मानने के लिए तैयार नहीं है। यही कारण है कि नयी कहानी हमेशा विवादों से घिरी रही है।

'लहर' पत्रिका अपने दौर की महत्त्वपूर्ण लघु पत्रिकाओं में से एक थी। राजनीति की कड़वी सच्चाई को 'लहर' ने सदा बेबाकी से प्रस्तुत किया है। लेकिन आपातकाल के दौरान इस पत्रिका का क्रांतिकारी स्वर उभर कर उस रूप में सामने नहीं आया जिसकी इससे उम्मीद थी। फ़रवरी 1978 के अंक में 'पत्र-प्रतिकिया' स्तम्भ के अंतर्गत कुंतल कुमार जैन की एक लम्बी टिप्पणी प्रकाशित हुई। यह प्रतिक्रिया कुंतल कुमार ने आपातकाल के संदर्भ में की थी। उन्होंने आपातकाल के समय 'लहर' पत्रिका की खामोशी को लेकर कुछ सवाल किये। साफ़ शब्दों में उन्होंने संपादक प्रकाश जैन से यह पूछा कि आप तब कहाँ थे जब देश पर 'आपातकाल' के काले बादल छा रहे थे। तब आपने अपनी इस पत्रिका में क्यों कोई विरोध प्रदर्शित नहीं किया और अब जब आपातकाल को खत्म हुए एक वर्ष होने वाला है तब आप आपातकाल पर लिखी हुई रचनाओं का सिंहावलोकन कर रहे हैं- "इमरजेंसी का विरोध करने वाले और उसके खूंख्वार रूप को पहचानने और उसका प्रतिकार करने वाले समूचे साहित्य में या समूचे भारतीय साहित्य में गिने लोग ही थे लेकिन आज जब इमरजेंसी नहीं है तो उसका विरोध करने वाली भेड़ों के झुंड के झुंड हर जगह दिखाई दे रहे हैं। अजीब विडम्बना है कि 'लहर' में भी यह लहर इमरजेंसी के बाद आई है। समझ नहीं आता कि अब इमरजेंसी है ही नहीं तो इसके खिलाफ इस शोर गुल क्या मतलब है ?"[7] कुंतल कुमार के इस कथन के जवाब में प्रकाश जैन ने अपने संपादकीय मेंलिखा कि- "कुंतल भाई ने कहा है 'जो हो चुका, उसका आज क्या रोना है ?' अर्थ यह हुआ कि आदमी बीते क्षण को एक दम भूल जाय, या नकार दे, वीतरागी हो जाए ? पर यह क्या संभव है ? और क्या ऐसा होना चाहिए ? .....कुंतल भाई को विश्वास करना चाहिए कि ऐसे भी लोग थे जिन्होंने उन दिनों जमकर मंच से ऐसी आक्रोशी कविताओं का जी भर पाठ किया और उस समय ऐसी अफसर भी थे जो कवि सम्मलेन के बीच से उठकर चले जाते थे, ताकि वे कवि उन कविताओं को सुना सकें।... और आपातकाल मात्र आपातकाल ही था, उस समय जनहित की दृष्टि से कुछ नहीं हुआ, यह कहना भी अपने साथ छल करना है।"[8] प्रकाश जैन के संपादकीय से ऐसा मालूम होता है कि वह आपातकालीन स्थितियों को समझने में कोई भूल कर रहे थे। आम-जनता का आपातकाल में कितना हित हुआ और कितना अहित यह हम सभी जानते हैं। आम जनता किस मानसिक दुविधा का शिकार थी यह बात भी किसी से छिपी नहीं है। रही सामाजिक हित की बात तो यहाँ यह कहना ज्यादा सही रहेगा कि आपातकाल में जो सामाजिक हित की चर्चा हुई थी जिसे जोर-शोर से उछाला गया था- वो एक छलावा

था ताकि जनता इस व्यवस्था का विरोध न कर सके। हाँ ! यह बात सही है कि उस वक़्त ऐसे कुछ साहित्यकार, कवि अवश्य थे जो जनता के समक्ष इमरजेंसी का असली रूप प्रस्तुत करने से नहीं हिचक रहे थे। नागार्जुन की कविताओं को कौन भूल सकता है, दुष्यंत की गज़लें किसने नहीं सुनीं, लेकिन यह भी एक सच था कि सेंसरशिप और सत्ता के डर से अपने को अव्यावसायिक कहने वाली पत्रिकाएँ भी ऐसी रचनाकारों की रचना प्रकाशित करने में डर रही थीं। कुंतल कुमार अपनी प्रतिक्रिया में ऐसी ही पत्रिकाओं की चुटकी लेते हुए कहते हैं कि- "आपातकाल आते ही मेरे तो हाथ-पाँव फूल गए थे। तब एक भले आदमी ने मुझ से कहा था कि छोड़ो आप इन पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ना, और पढ़ो गांधी के लेखों को, जो बिना ज़रूरत के कुछ भी नहीं लिखते थे। इसके बाद मैं ज्यों-ज्यों गांधी को पढ़ता गया, मुझे मेरा खोया बल वापस मिलने लगा। कहने का मतलब यह है कि हम शब्दों को बिना ज़रूरत अनाप-शनाप प्रयोग न करें तो अच्छा है। तब थोड़े दिन बाद जाकर मैंने लिखा- पहले होठों से कहा गया, तुम जीभ के कहने में मत आओ। बाद में दांतों ने जीभ से कहा, 'तुम अपनी मर्यादा में रहो। अब हम ही तुम्हारे पहरेदार हैं। रक्षा भार हम पर है और देखो, देखो ! सेना हमारा शरीर है। अब हर चीज पहले हम चख लेंगे। फिर मौसम अनुकूल होने पर तुम्हें देंगे। बात नयी भी है और पुरानी भी है। सिंहासनों से जुड़ी इसकी कहानी भी है कि जीभ जब सच के साथ हो जाती है तो कड़वी नीम हो जाती है। फिर मुंडी पकड़कर, गला दबाकर, बाहर निकालकर सरे आम रास्ते पर काट दी जाती है। या दांतों के पीछे डाल दी जाती है।...कोई भी हिन्दी पत्रिका इसे छाप न सकी। कोई 'वेट एंड सी' की बात कहने लगा, किसी ने उत्तर ही नहीं दिया। किसी ने चुपचाप कविता लौटा दी... हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की यथास्थिति को बदलने का शोर मचाने वाले अव्यावसायिक संपादक भी बदल गए थे।"[9] 'लहर' जैसी पत्रिका जो इमरजेंसी लगने से कई वर्ष पहले ही राजनीति के झूठ का पर्दाफाश करने वाली कवितायेँ छाप रही थी उसकी व्यंग्य-धार इस समय क्यों मंद पड़ गयी थी? क्या अनिश्चितकालीन पत्रिकाओं को भी यह डर सताने लगा था कि वे बंद हो जायेंगी या उनकी जीभ को सरेआम काट दिया जाएगा? और इमरजेंसी एवं सत्ता परिवर्तन के पश्चात यह पत्रिकाएं इतिहास में अपने नाम को दर्ज कराने के लिए कोई आडम्बर रच रही थीं? सच क्या है यह जानना मुश्किल है लेकिन यह ज़रूर है कि 'लहर' जैसी अनेकों पत्रिकाओं ने इमरजेंसी के बाद उसकी बखिया उधेड़नी शुरू की। मई,1978 के अंक में लहर ने आपातकालीन पृष्ठभूमि पर एक कविता 'डर' प्रकाशित की जिसमें ऐसे पत्रकारों, संपादकों, साहित्यकारों की चुटकी ली गयी है जिनकी ज़ुबानों पर इमरजेंसी में ताला लग गया था-

"इतने ज्यादा डरे हुए हैं वे लोग
कि खतरे को खतरा कहते हुए
खुद लड़खड़ाने लगते हैं
चेहरे की संतुष्ट सुर्खी
पीली पड़ने लगती है
आँखें गोल-गोल घूमती हुई
सूंघने लगती हैं कुछ इस तरह
कि आस-पास ही
कहीं कोई डर तो नहीं।"[10]

आपातकाल के समय जो लोग डर कर बिल में छुपकर बैठे थे उन पर यह कविता गहरी चोट करती है। लेकिन अफ़सोस इस बात का है कि जब ऐसी धारदार कविताओं की आवश्यकता थी तब न तो कहने वाले कवि मिल रहे थे न छापने वाले संपादक।

नयी कहानी के संदर्भ में हिन्दी लेखक शुरुआत से ही दो गुटों में बंटे नज़र आये हैं एक वो जो इस आन्दोलन या प्रवृत्ति का समर्थन करते है और दूसरे वो जो 'नयी कहानी' को किसी भी कीमत पर नया मानने के लिए तैयार नहीं है। यही कारण है कि नयी कहानी हमेशा विवादों से घिरी रही है। 'लहर' में नयी कहानी को लेकर काफी चर्चाएं एवं बहसें हुई हैं। इन बहसों के बीच

अक्टूबर 1963 के अंक में 'लहर' में रमेश बक्षी का एक लम्बा आलेख प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था- "नई कहानी, पुरानी पीढ़ी और 'मालविकाग्निमित्र' का पहला श्लोक।"[11] इस आलेख में रमेश बक्षी ने उन पुरानी पीढ़ी के कहानीकारों की मानसिकता पर सवालिया निशान खड़े किये हैं जो साहित्य में नए कहानीकारों की पीढ़ी को फलते-फूलते देखते हुए मुंह बनाते हैं। अपने आलेख में वह सीधा निशाना चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और मन्मथनाथ गुप्त पर साधते हैं जिन्होंने 'सारिका' और 'आजकल' पत्रिकाओं में बारी-बारी से कुछ संपादकीय एवं लेख नयी कहानी और कहानीकारों के सम्बन्ध में प्रकाशित किये। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के संपादकीय का आशय समझाते हुए रमेश बक्षी लिखते हैं- "श्री चन्द्रगुप्त जी के कहने का आशय यह है कि यह नयी कहानी मूर्खतापूर्ण गुस्ताखी है और दुकानदारी चलाने के लिए संगठित विज्ञापनबाजी के रूप में फल-फूल रही है। उनके चश्मे में चार पीढ़ियाँ हैं- पहली : मध्यम, दूसरी : उत्कृष्ट, तीसरी : साधारण और चौथी : निकृष्ट। कहने का तात्पर्य यह है कि 'मध्यम' के पदचिह्नों पर उनकी उत्कृष्ट पीढ़ी चल रही है, शानदार रिकार्ड कायम कर रही है और 'साधारण' एवं 'निकृष्ट' पीढ़ियाँ उतावलेपन में व्यस्त हैं।"[12] रमेश बक्षी इस कथन में 'आशय' की बात कर रहे हैं लेकिन वास्तविकता में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने शब्दशः नयी कहानीकारों के बारे में क्या कहा इसका चित्रण पूरे आलेख में कहीं नहीं मिलता। आशय तो एक ही बात के हजारों निकलते हैं लेकिन कहने वाले का अभिप्राय क्या है इस बात को समझना बेहद ज़रूरी है। रमेश बक्षी ने बिना कोई उदाहरण दिए केवल संपादकीय एवं लेखों का हवाला देते हुए पुरानी पीढ़ी के लेखकों को कटघरे में खड़ा कर दिया और नयी पीढ़ी के संपादकों और लेखकों को 'लिबरल और सौजन्यशील' बना दिया- "मेरी सोच में नयी पीढ़ी का संपादक अपनी समकालीन, आने वाली और आ रही पीढ़ी के प्रति बड़ा 'लिबरल और सौजन्यशील' है। संपादक अश्क जी हों, भैरवप्रसाद गुप्त हों, श्रीपत राय हों, डॉ. धर्मवीर भारती हों, लक्ष्मीचन्द्र जैन हों, मोहन राकेश हों, कमलेश्वर हों। इन सबके संपादन को देखा जा सकता है कि कैसी सहजता और कैसे प्यार से नए कहानीकारों को ये आगे लाये औए उन्हें प्रतिष्ठा दी।"[13] उपर्युक्त कथन में रमेश बक्षी ने जिन-जिन लेखकों या संपादकों के नाम लिए उनमें से अधिकतर तो स्वयं ही नयी कहानी आन्दोलन से जुड़े हुए थे तो वह कैसे नई कहानीकार का बहिष्कार करते ? इसके बाद रमेश बक्षी जी इन सभी लेखकों के संपादकीय के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि कैसे यह नयी कहानीकारों की सरहाना करते हैं। यहाँ पर एक प्रश्न विचारणीय है कि जिन पुरानी पीढ़ी के संपादकों या लेखकों पर यह आरोप लगाया गया कि वह नए कहानीकार का विरोध कर रहे हैं उनके उस विरोधी वक्तव्यों को क्यों प्रस्तुत नहीं किया गया ? ऐसा लगता है रमेश बक्षी ने यह लेख केवल नयी पीढ़ी के लेखकों का गुणगान करने की दृष्टि से ही लिखा था तभी तो जिस 'मालविकाग्निमित्र' के श्लोक का हवाला देते हुए वह यह कहते हैं कि- "जो पुराना है वह सब सही है, यह भी गलत है और जो नया है, वही सही है, यह भी गलत है। अच्छे लोग परीक्षण करके ही किसी वस्तु को अपनाते हैं, मूर्ख लोग यानी अप्रबुद्ध लोग दूसरी की लकीर की फकीरी करते हैं।"[14] इसका अनुसरण वह स्वयं अपने लेख में नहीं कर पाए। अगर किया होता तो केवल आँख मूँद कर नए कहानीकारों की प्रशंसा और पुराने की बुराई न की होती। यह बात सही है कि नयी पीढ़ी के लेखकों को आगे बढ़ने का, अपनी प्रतिभा दिखाने का मौका मिलना चाहिए लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह जो लिख रहे हैं वो ही अंतिम सत्य हो गया। नए लेखकों द्वारा जो लिखा जा रहा था उस पर अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार तो हर किसी को है चन्द्रगुप्त जी ने या मन्मथनाथ जी ने भी यही किया इसका मतलब यह नहीं कि वह नई पीढ़ी के विरोधी हो गए और अपनी पीढ़ी को उत्कृष्ट मानने लगे।

रमेश बक्षी के इस लम्बे-चौड़े वक्तव्य के जवाब में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की एक टिप्पणी 'लहर' के नवम्बर

1963 के अंक में प्रकाशित हुई थी जिसमें उन्होंने बक्षी जी द्वारा लगाये गए आरोपों को पूर्ण रूप से मिथ्या घोषित करते हुए कहा- "श्री रमेश बक्षी का कथन एकदम मिथ्या है। उत्तम, मध्यम, साधारण और निकृष्ट वाली बात पूर्ण रूप से श्री रमेश बक्षी के दिमाग की उपज है। मेरे संपादकीय नोटों में 'नयी कहानी' का नाम सिर्फ अन्य व्यक्ति के उद्धरण में आया है। उस व्यक्तिविशेष की झुंझलाहट की मैंने अपने नोट में भर्त्सना की है। इन टिप्पणियों में 'नयी कहानी' को 'मूर्खतापूर्ण गुस्ताखी' या कुछ और कहने का तो सवाल ही नहीं उठता।"[15] चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अपनी छोटी सी टिपण्णी में अपने संपादकीय मंतव्य को स्पष्ट कर दिया। यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि रमेश बक्षी गलत हैं और चन्द्रगुप्त सही बल्कि यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया जा रहा है कि साहित्य में प्रवृत्तियों को लेकर सहमति और असहमति चलती रहती है लेकिन इसका मतलब यह कतई नहीं है कि किसी बात को तोड़-मरोड़ के इस रूप में प्रस्तुत किया जाए कि वह एक विवाद का रूप ले ले। विवाद साहित्य में नयी विचारधाराओं के उभार के लिए बहुत प्रेरक है लेकिन तभी जब वह विवाद स्वाभाविक एवं स्वस्थ तरीके से जन्म ले न कि उसे ज़बरदस्ती पैदा करने की कोशिश की जाए जैसा रमेश बक्षी के आलेख में प्रतीत होता है। जिन चार पीढ़ियों का ज़िक्र अपने आलेख में करते हैं उन चारों पीढ़ियों का हिन्दी साहित्य में बराबर का योगदान है इसमें कोई उत्तम या निकृष्ट नहीं है। हाँ ! यह ज़रूर है कि हर पीढ़ी में कुछेक ऐसे लेखक ज़रूर होते हैं जो उत्तम, साधारण, मध्यम होते हैं। ऐसे लेखक प्रेमचंद के काल में भी थे, उसके बाद की पीढ़ी में भी थे और नयी कहानीकार की पीढ़ी में भी होंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी व्यक्ति विशेष के लेखन के संदर्भ में की गयी टिप्पणी को आप पूरी प्रवृत्ति के साथ जोड़ देंगे और नयी पीढ़ी को लिबरल और पुरानी पीढ़ी को तानाशाह घोषित कर देंगे। इसमें दो राय नहीं है कि रमेश बक्षी ने चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के सम्पादकीय लेखों का बहाना बनाकर नयी कहानी और नए कहानीकारों का केवल और केवल प्रशस्तिगान किया है।

नवम्बर 1963 के अंक में मुद्राराक्षस ने 'नयी कहानी' की तुलना 'नई जवानी' के उस पोस्टर से कर दी जो गली-गली में लगे रहते हैं और जिनके लगने से किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता। मुद्राराक्षस अपनी इस टिप्पणी में 'नयी कहानी' पर तंज कसते हुए कहते हैं कि- "हम भी कहानियाँ लिखते हैं, और लोग भी लिखते हैं, वैसे ही ये लोग भी कहानियाँ बनाने का धन्धा करते हैं। इसमें तो कोई एतराज की बात नहीं है। यह दूसरी बात है कि हमने साहित्य की परम्परा से इस कला का लाइसेंस लिया है, तो उन्हें साहित्य के प्रकाशकों से इस दस्तकारी का लाइसेंस मिल गया है।"[16] मुद्राराक्षस साफ़ लफ़्ज़ों में 'नयी कहानी' को विज्ञापनबाज़ी की कहानी कहते हैं। वो मानते हैं कि इस अव्यावसायिक के पीछे नए लेखकों का अपना स्वार्थ छिपा है। नए कहानीकार 'कहानी' को नए एवं पुराने का नाम जानबूझकर दे रहे हैं ताकि साहित्यिक बाज़ार में वही कहानी बिके जिस पर नए का ठप्पा लगा है और जिसका प्रचार सबसे अधिक हो रहा है तभी तो 'नयी कहानी' नामक आन्दोलन भी चल पड़ा और कुछ पत्रिकाएं भी इस ब्रांड का समर्थन करने के लिए साहित्यिक गलियारों में आ गयीं। इन पत्रिकाओं में नयी कहानी को लेकर जो विज्ञापनबाजी होती है उसकी ओर संकेत करते हुए मुद्राराक्षस लिखते हैं- "अब कहानी के क्षेत्र में एक पत्रिका निकलती है। पत्रिका को अपनी बिक्री के लिय विज्ञापन करना है। विज्ञापन नहीं होगा, पत्रिका बिकेगी नहीं। प्रकाशक बंद कर देगा, तो लेखकों का ही घाटा होगा। प्रकाशक खुद तो विज्ञापन कर नहीं सकता। इसलिए अगर यह काम वह दूसरों से लेता है तो हम उन विज्ञापकों से क्यों नाराज़ हों ? अगर हम कविराज बोगसचंद के 'नई जवानी हासिल कीजिये' वाले पोस्टर चिपकाने वाले आदमी पर नाराज़ नहीं होते तो हमें 'नई कहानी ही पढ़िए' की आवाज़ लगाने वालों से चिढ़ क्यों ?"[17] यह बात सही है कि कुछेक लोगों ने साहित्यिक प्रवृत्ति को आन्दोलन

का रूप देकर उससे लाभ अर्जित करने की कोशिश की है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि 'नयी कहानी' की तुलना गली में लगे किसी भी अश्लील विज्ञापन से कर दी जाये। जहाँ तक बात है पत्रिकाओं की तो जो सम्पादक स्वयं 'नयी कहानी' के लेखक या उस आन्दोलन से जुड़े हुए हैं उनसे आप यह उम्मीद तो नहीं कर सकते कि वह 'नयी कहानी' को छोड़कर आपको पुरानी लेखकों की कहानी पढ़ने को बोलेंगे। हाँ ! यह बात सही है कि 'नयी कहानी' को लेकर साहित्यिक विज्ञापनबाज़ी हो रही थी और कुछ नए कहानीकारों ने 'कहानी' को दो भागों में बांटने का प्रयत्न भी किया लेकिन सभी नए लेखक इस दायरे के अंतर्गत दोषी नहीं ठहराये जा सकते और न ही केवल कुछेक लेखकों की विज्ञापन बाज़ी के आधार पर सम्पूर्ण 'नयी कहानी' के अस्तित्व को नकारा जा सकता है।

मुद्राराक्षस द्वारा 'नयी कहानी' पर जो प्रहार किया गया उसका जवाब सोमा वीरा ने अपने वक्तव्य 'कहानीवाद X विवाद = बिरादरीवाद + अवनति मार्ग'[18] में दिया। सोमा वीरा सबसे पहले सभी साहित्यकारों से यह प्रश्न करती हैं कि 'कहानी' के नाम पर जो बिरादरीवाद साहित्य में हो रहा है उससे फायदा और नुक्सान किसका हो रहा है ? पुरानी और नयी कहानी के नाम पर जो लोग एक-दूसरे पर छींटाकशी कर रहे हैं वह साहित्य को लाभान्वित कर रहे हैं या उसे टुकड़े-टुकड़े में बांटकर उसके अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं। यह गुटबंदी क्या साहित्य को नया मार्ग प्रशस्त कर पाएगी ? दरअसल साहित्यिक गुटबाजी की कोई बुनियाद नहीं होती यह केवल साहित्यकार अपने-आप को लाभ पहुंचाने के लिए करते हैं। नयी कहानी और पुरानी कहानी को लेकर जिस तरह की बहस चली वे बेबुनियाद थीं क्योंकि इस बात को तय करने कोई मापदंड नहीं है कि कौनसी कहानी बेहतर है 'नयी' या 'पुरानी'। कहानी केवल कहानी होती है वक्त और परिस्थिति के साथ उसके शिल्प या कथ्य में परिवर्तन आना स्वाभाविक है जैसा 'नयी कहानी' में हुआ या उससे पहले की जो कहानी थी उसमें भी परिलक्षित होता है। इसलिए 'कहानी' को लेकर जो गुटबाजी हुई उसके पीछे साहित्यकारों और लेखकों का अपना निजी स्वार्थ था।

सोमा वीरा 'नयी कहानी की नयी जवानी' से तुलना पर मुद्राराक्षस से यह प्रश्न करती हुई लिखती हैं कि- "क्या एक बार भी उन्होंने यह सोचा कि यह लिखकर उन्होंने 'नयी कहानी' का कितना भारी अपमान किया है ? जिस दिन 'नयी कहानी' केवल विज्ञापन बन जायेगी, उस दिन वह साहित्य-क्षेत्र में टिकेगी भी नहीं। जैसे पुराना विज्ञापन फटकर, दीवार पर से उखड़ जाता है, वह भी वैसे ही विनिष्ट हो जायेगी।"[19] इस बात में कोई दो राय नहीं है कि 'नयी कहानी' केवल फतवे बाजी या विज्ञापन बाजी नहीं थी, गंभीर और अच्छी कहानियाँ नए कहानीकार भी लिख रहे थे। केवल कुछेक साहित्यकारों ने अपनी सुविधा के लिए कहानी में बिरादरीवाद को जन्म दिया ताकि उनकी अपनी साहित्यिक दुकानें चलती रहें। क्योंकि इन विवादों से किसी आम पाठक का कोई कोई लेना-देना नहीं था। जो पाठक कहानी या कविता पढ़ने के लिए पत्रिका खरीदते हैं उनकी नज़र शायद ही इन विवादों पर जाती होगी और न ही वह किसी कहानी या कविता को इस दृष्टि से पढ़ते होंगे की कौन सी पुरानी और कौन सी नयी (साहित्यिक विद्वानों को छोड़कर)। अगर इन विवादों से साहित्य को कोई नयी दिशा मिल रही होती तो ज़रूर इनका कोई फायदा होता लेकिन यह विवाद तो साहित्य को उसकी बनी बनायी दिशा से भी भटकाने की कोशिश कर रहे थे।

इन विवादों के अलावा 'लहर' में नयी कहानी को लेकर बहुत से आरोप और प्रत्यारोप का सिलसिला चलता रहा कभी 'नयी कहानी आन्दोलन' की आवश्यकता पर तो कभी 'नए कहानीकारों की रचनात्मकता' को लेकर। दरअसल सोमा वीरा ने अपने एक लेख में नयी कहानी को लेकर एक बात कही थी कि अगर नयी कहानी को किसी आन्दोलन का रूप नहीं दिया गया होता तो शायद यह विवाद कभी शुरू ही नहीं होता।

बात भी सही है 'नयी कहानी' और 'नयी कहानी आन्दोलन' में फर्क है। नयी कहानी वो भी थी जब प्रेमचंद या इंशा अल्लाह खान या माधव राव सप्रे लिख रहे थे क्योंकि वो साहित्य को एक नया रूप देने की कोशिश रहे थे। ज़ाहिर सी बात है कल जो नयी थी वह आज पुरानी हो गयी और जो आज नयी है वह कल पुरानी हो जायेगी लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जो पुराना हो गया वो साहित्य में रहने या चर्चा करने के योग्य नहीं। भारतेंदु या प्रेमचंद आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस समय थे। इसलिए पुरानी पीढ़ी या नयी पीढ़ी का विवाद असल में कोई विवाद है ही नहीं। साहित्य की प्रगति के लिए दोनों ही आवश्यक हैं जिसे आन्दोलनकारी नहीं समझ रहे। सोमा वीरा नयी कहानी आन्दोलन पर रोशनी डालते हुए लिखती हैं- "जिन्होंने यह आन्दोलन प्रारंभ किया था, उनके मन में यह विश्वास नहीं था कि केवल अपनी रचनाओं के बल पर वे साहित्य के क्षेत्र में स्थान पा सकेंगे, इसीलिए गुट बाँध कर वे अपना निश्चित स्थान बना लेना चाहते थे। एक बार आन्दोलन उठ खड़ा हुआ तो अनेक दूसरे भी मैत्री के कारण, या अपनी आवाज़ शामिल करने के लिए मैदान में कूद पड़े। किन्तु अगर वे ऐसा न करते तो, विवाद कब का खत्म हो गया होता।"[20] विवाद ख़त्म हो गया होता तो शायद नयी कहानी की चर्चा आज उस रूप में नहीं हो रही होती जिस रूप में हो रही है। विवाद खत्म हो गया होता तो न सोमा वीरा लिख रही होतीं न ही उनकी टिपण्णी प्रकाशित हो रही होती। शायद नए साहित्य की मांग ही नया विवाद है जिसकी शुरुआत 'नयी कहानी' से हुई।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि 'लहर' के बिना लघु पत्रिकाओं का इतिहास ही नहीं बल्कि हिन्दी साहित्य का इतिहास भी अधूरा है। 'लहर'अपने समय की एक उन सशक्त पत्रिकाओं में से एक थी जिसने तमाम मुश्किलों का सामना किया लेकिन अपने साहित्यिक लक्ष्य से नहीं भटकी और अव्यावसायिक पत्रिकाओं के लिए एक मिसाल बनी। आज जब लघु पत्रिका आन्दोलन अपनी राह से भटक गया है तब भी 'लहर' जैसी पत्रिकाएं एक उदाहरण बनकर इस आन्दोलन और हिन्दी साहित्य की उन्नति एवं समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

संदर्भसूची:

1. लहर, संपादक- प्रकाश जैन और मनमोहिनी, वर्ष-12, अंक- 2, अगस्त-1968, पृ. 3
2. वही, अंक-3, सितम्बर-1968, पृ. 3-4
3. वही, वर्ष-12, अंक- 7, जनवरी- 1969, पृ. 6
4. वही, अंक- 8-9, फ़रवरी-मार्च-1969, पृ. 3
5. लहर, संपादक- प्रकाश जैन और मनमोहिनी, वर्ष 12, अंक-10, अप्रैल-1969, पृ. 32-33
6. वही, पृ. 28
7. लहर, संपा- प्रकाश जैन, वर्ष-19, अंक- 4, फ़रवरी-1978, पृ. 5-6
8. वही, पृ. 3-4
9. वही, पृ. 7-8
10. वही, अंक-7, मई- 1978, पृ. 52
11. लहर, संपादक- प्रकाश जैन और मनमोहिनी, वर्ष- 7, अंक- 4, अक्टूबर-1963, पृ. 73
12. वही, पृ. 74
13. वही, पृ. 75
14. वही, पृ. 74
15. वही, अंक- 5, नवम्बर- 1963, पृ. 81
16. वही, पृ. 81-82
17. वही, पृ. 82
18. वही, वर्ष-7, अंक- 12, जून-1964, पृ. 61
19. वही, पृ. 64
20. वही, वर्ष-8, अंक-9, मार्च-1965, पृ. 64 स्व